जैन आगमों की मूलभाषा : अर्धमागधी या शौरसेनी?

प्रो.(डॉ.,सागरमल जैन
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी...५

वर्तमान में 'प्राकृतविद्या' नामक शोधपत्रिका के माध्यम से जैनविद्या के विद्वानों का एक वर्ग आग्रह-पूर्वक यह प्रतिपादन कर रहा है कि जैन आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी, जिसे कालान्तर में परिवर्तित करके अर्धमागधा बना दिया गया। इस वर्ग का यह भी दावा है कि शौरसेनी प्राकृत ही प्राचीनतम प्राकृत है और अन्य सभी प्राकृतें यथा - मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि इसी से विकसित हुई हैं, अतः वे सभी शौरसेनी प्राकृत से परवर्ती भी हैं। इसी क्रम में दिगंबर-परंपरा में आगमों के रूप में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निहित अर्धमागधी और महाराष्ट्री शब्द रूपों को परिवर्तित कर उन्हें शौरसेनी में रूपान्तरित करने का एक सुनियोजित प्रयत्न भी किया जा रहा है। इस समस्त प्रचार-प्रसार के पीछे मूलभूत उद्देश्य यह है कि श्वेताम्बर-मान्य आगमों को दिगंबर परंपरा में मान्य आगम तुल्य ग्रंथों से अर्वाचीन और अपने शौरसेनी में निबद्ध आगम तुल्य ग्रंथों को प्राचीन सिद्ध किया जाए। इस पारस्परिक विवाद का एक परिणाम यह भी हो रहा है कि श्वेताम्बर-दिगंबर परंपरा के बीच कटुता की खाई गहरी होती जा रही है और इस सब में एक निष्पक्ष भाषाशास्त्रीय अध्ययन को पीछे छोड़ दिया जा रहा है। प्रस्तुत निबंध में मैं इन सभी प्रश्नों पर श्वेताम्बर परंपरा में आगम रूप में मान्य ग्रंथों के आलोक में चर्चा करने का प्रयत्न करूंगा।

क्या आगम-साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था ?

यहाँ सर्वप्रथम मैं इस प्रश्न की चर्चा करना चाहूँगा कि क्या जैन आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था और उसे बाद में परिवर्तित करके अर्धमागधी रूप दिया गया? कुछ जैन विद्या के विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन आगम साहित्य मूलतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुआ था और उसे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किया गया। अपने इस कथन के पक्ष में वे श्वेताम्बर दिगंबर किन्ही भी आगमों का प्रमाण न देकर प्रो. टाँटिया के व्याख्यान से कुछ अंश उद्धृत करते हैं। डा. सुदीप जैन ने प्राकृतविद्या जनवरी-मार्च ९६ के सम्पादकीय में उनके कथन को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है--

"हाल ही में लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ में सम्पन्न द्वितीय आचार्य कुन्दकुन्दस्मृति व्याख्यानमाला में विश्वविश्रुत भाषाशास्त्री एवं दार्शनिक विचारक प्रो. नथमल जी टाँटिया ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि श्रमण-साहित्य का प्राचीनरूप, चाहे वे बौद्धों के त्रिपिटक आदि हों, श्वेताम्बरों के आचारांगसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि हों अथवा दिगंबरों के षट्खण्डागमसूत्र, समयसार आदि हों, सभी शौरसेनी प्राकृत में ही निबद्ध थे। उन्होंने आगे सप्रमाण स्पष्ट किया कि बौद्धों ने बाद में श्रीलंका में एक बृहत्संगीति में योजनापूर्वक शौरसेनी में निबद्ध बौद्धसाहित्य का मागधीकरण किया और प्राचीन शौरसेनी निबद्ध बौद्ध-साहित्य के ग्रंथों को अग्निसात् कर दिया। इसी प्रकार श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृत में ही था, जिसका रूप क्रमशः अर्धमागधी में बदल गया। यदि हम वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल श्वेताम्बर आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे, तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से पंद्रह सौ वर्ष पहिले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को भी ५०० ई. के परवर्ती मानना पड़ेगा।"

उन्होंने स्पष्ट किया कि आज भी आचारांगसूत्र आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है, जबकि नए प्रकाशित संस्करणों में उन शब्दों का अर्धमागधीकरण हो गया है। उन्होंने कहा कि पक्षव्यामोह के कारण ऐसे परिवर्तनों से हम अपने साहित्य का प्राचीन मूल रूप खो रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि दिगंबर जैन साहित्य में ही शौरसेनी भाषा के प्राचीनरूप सुरक्षित रूप में उपलब्ध हैं।

निस्संदेह प्रो. टाँटिया जैन और बौद्धविद्याओं के वरिष्ठतम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वानों में एक हैं और उनके कथन का कोई अर्थ और आधार भी होगा। किन्तु ये कथन उनके अपने हैं या उन्हें अपने पक्ष की पुष्टि हेतु तोड़-मोड़कर प्रस्तुत किया गया है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है? क्योंकि एक ओर तुलसीप्रज्ञा के सम्पादक का कहना है कि टाँटिया जी ने इसका खण्डन किया है। वे तुलसीप्रज्ञा (अप्रैल-जून ९३, खंड २२, अंक ४) में लिखते हैं कि "डा. नथमल टांटिया ने दिल्ली की एक पत्रिका में छपे और उनके नाम से प्रचारित इस कथन का खंडन किया है कि महावीरवाणी शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध हुई। उन्होंने स्पष्ट मत प्रकट किया कि आचारांग, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और दशवैकालिक में अर्धमागधी भाषा का उत्कृष्ट रूप है।"

दूसरी ओर प्राकृतविद्या के सम्पादक डा. सुदीपजी का कथन है कि उनके व्याख्यान की टेप हमारे पास उपलब्ध है और हमने उसे अविकल रूप से यथावत दिया है। मात्र इतना ही नहीं डा. सुदीपजी का तो यह भी कथन है कि तुलसीप्रज्ञा के खण्डन के बाद भी वे टाँटिया जी से मिले हैं और टाँटियाजी ने उनसे कहा है कि वे अपने कथन पर आज भी दृढ़ हैं।टाँटियाजी के इस कथन को उन्होंने प्राकृतविद्या जुलाई-सितंबर ९६ के अंक में निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया --

"मैं संस्कृत विद्यापीठ की व्याख्यानमाला में प्रस्तुत तथ्यों पर पूर्णतया दृढ़ हूँ तथा यह मेरी तथ्याधारित स्पष्ट अवधारणा है जिससे विचलित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।" (पृ. ९)

यह समस्त विवाद दो पत्रिकाओं के माध्यम से दोनों सम्पादकों के मध्य है, किन्तु इस विवाद में सत्यता क्या है और डा. टाँटिया का मूल मन्तव्य क्या है, इसका निर्णय तो तभी संभव है, जब डा. टाँटिया स्वयं इस संबंध में लिखित वक्तव्य देते, किन्तु वे इस संबंध में मौन रहे हैं। मैंने स्वयं उन्हें पत्र लिखा था, किन्तु उनका कोई प्रत्युत्तर नहीं आया। मैं डा. टाँटिया की उलझन समझता हूँ एक ओर कुन्दकुन्द-भारती ने उन्हें कुन्दकुन्द-व्याख्यान-माला में आमन्त्रित कर पुरस्कृत किया है, तो दूसरी ओर वे जैन-विश्वभारती की सेवा में हैं, जब जिस मंच से बोले होंगे भावावेश में उनके अनुकूल वक्तव्य दे दिए होंगे और अब स्पष्ट खण्डन भी कैसे करें? फिर भी मेरी अन्तरात्मा यह स्वीकार नहीं करती है कि डा. टाँटिया जैसा गंभीर विद्वान् बिना प्रमाण के ऐसे वक्तव्य दे दे। कहीं न कहीं शब्दों की कोई जोड़-तोड़ अवश्य हो रही है। डा. सुदीपजी प्राकृतविद्या जुलाई-सितंबर ९६ में डा. टाँटिया जी के उक्त व्याख्यानों के विचार-बिन्दुओं को अविकल रूप से प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि - 'हरिभद्र का सारा योगशतक धवला से है'।

इसका तात्पर्य है कि हरिभद्र ने योगशतक को धवला के आधार पर बनाया है। क्या टाँटिया जी जैसे विद्वान् को इतना भी इतिहास-बोध नहीं है कि योगशतक के कर्ता हरिभद्र सूरि और धवला के कर्ता में कौन पहले हुआ है? यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि हरिभद्रसूरि का योगशतक (आठवीं शती) धवला (दसवीं शती) से पूर्ववर्ती है। मुझे विश्वास भी नहीं होता है कि टाँटिया जैसा विद्वान् इस ऐतिहासिक सत्य को अनदेखा कर दे। कहीं न कहीं उनके नाम पर कोई भ्रम खड़ा किया जा रहा है। डा. टांटिया जी को अपनी चुप्पी तोड़कर भ्रम का निराकरण करना चाहिए था। वस्तुतः यदि कोई भी चर्चा प्रमाणों के आधार पर नहीं होती है तो उसे मान्य नहीं किया जा सकता है, फिर चाहे उसे कितने ही बड़े विद्वान् ने क्यों नहीं कहा हो। यदि व्यक्ति का ही महत्त्व मान्य है तो अभी संयोग से टाँटिया जी से भी वरिष्ठ अंतरराष्ट्रीय ख्याति के जैन बौद्ध विद्याओं के महामनीषी और स्वयं टाँटिया जी के गुरु पद्म विभूषण पं. दलसुख भाई हमारे बीच हैं, फिर तो उनके कथन को अधिक प्रमाणिक मानकर प्राकृतविद्या के सम्पादक को स्वीकार करना होगा। खैर ये सब प्रास्तविक बातें थीं, जिनसे यह समझा जा सके कि समस्या क्या है? कैसे उत्पन्न हुई और प्रस्तुत संगोष्ठी की क्या आवश्यकता है? हमें तो व्यक्तियों के कथनों या वक्तव्यों पर न जाकर तथ्यों के प्रकाश में इसकी समीक्षा करनी है कि आगामों की मूलभाषा क्या थी और अर्धमागधी और शौरसेनी में कौन प्राचीन है?

आगमों की मूलभाषा अर्धमागधी

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि महावीर का जन्मस्थान और कार्यक्षेत्र दोनों ही मुख्य रूप से मगध और उसके समीपवर्ती प्रदेश में ही था, अतः यह स्वाभाविक है कि उन्होंने जिस भाषा को बोला होगा वह समीपवर्ती क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही होगी। व्यक्ति की भाषा कभी भी अपनी मातृभाषा से अप्रभावित नहीं होती है। पुनः श्वेताम्बर परम्परा में मान्य जो भी आगम साहित्य आज उपलब्ध है, उसमें अनेक ऐसे संदर्भ है, जिनमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि महावीर ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने उपदेश अर्धमागधी भाषा में दिए थे।

इस संबंध में अर्धमागधी आगम साहित्य से कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए जा रहे हैं यथा--

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। समवायांग, समवाय ३४, सूत्र २२

२. तए णं समणे भगवं महावीरे कुणिअस्स भंभसारपुतस्स अद्धमागहीए भासाए भासत्ति अरिहाधम्मं परिकहइ। - औपपातिक सूत्र

३. गोयमा! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति सवि य णं अद्धमागंहा भासा भासिज्जमाणी विसज्जति। भगवई, लाडनूँ शतक ५, उद्देशक ४, सूत्र ९३

४. तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्त माहणस्स देवाणंदा माहणीए तीसे य महति महलियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए...सव्व भासाणुगामणिए सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमगहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहइ। भगवई लाडनूँ शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १४९

५. तए णं समणे भगवं महावीरे जामालिस्स खत्तियकुमारस्स...अद्धमागहाए भासाए भासइ धम्मं परिकहइ। भगवई लाडनूँ शतक ९, उद्देशक ३३, सूत्र १६३

६. सत्तसत्तसमदरिसीहिं अद्धमागहाए भासाए सुत्तं उवदिट्ठं। आचारांग चूर्णि, जिनदासगणि, पृ. २५५

मात्र इतना ही नहीं, दिगंबर परंपरा में मान्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ बोधपाहुड, जो स्वयं शौरसेनी में निबद्ध है, उसकी टीका में दिगंबर आचार्य श्रुतसागर जी लिखते हैं कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना उपदेश दिया। प्रमाण के लिए टीका के अनुवाद का वह अंश प्रस्तुत है। 'अर्ध' मगध देश भाषात्मक और अर्ध सर्वभाषात्मक भगवान् की ध्वनि खिरती है। शंका-अर्धमागधी भाषा देवकृत अतिशय कैसे हो सकती है क्योंकि भगवान् की भाषा ही अर्धमागधी है? उत्तर-मगध देव के सान्निध्य से होने से आचार्य प्रभाचन्द्र ने नन्दीश्वर भक्ति के अर्थ में लिखा है "एक योजन तक भगवान् की वाणी स्वयमेव सुनाई देती है। उसके आगे संख्यात योजनों तक उस दिव्यध्वनि का विस्तार मगध जाति के देव करते हैं। अतः अर्धमागधी भाषा देवकृत है। (षट्प्राभृतम् चतुर्थ बोधपाहुड टीका, पृ. १७६/२१)

मात्र यही नहीं वर्तमान में भी दिगंबर परंपरा के महान संत एवं आचार्य विद्यासागर जी के प्रमुख शिष्य मुनि श्री प्रमाण सागरजी अपनी पुस्तक जैन-धर्मदर्शन (पृ. ४०) में लिखते हैं कि उन भगवान् महावीर का उपदेश सर्वग्राह्य अर्धमागधी भाषा में हुआ।

जब श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों ही परंपराएँ यह मानकर चल रही हैं कि भगवान का उपदेश अर्धमागधी में हुआ था और इसी भाषा में उनके उपदेशों के आधार पर आगमों का प्रणयन हुआ तो फिर शौरसेनी के नाम से नया विवाद खड़ा करके इस खाई को चौड़ा क्यों किया जा रहा है? यह तो आगमिक प्रमाणों की चर्चा हुई। व्यावहारिक एवं ऐतिहासिक तथ्य भी इसी की पुष्टि करते हैं--

१. यदि महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी में दिए तो यह स्वाभाविक है कि गणधरों ने उसी भाषा में आगमों का प्रणयन किया होगा। अतः सिद्ध है कि आगमों की मूलभाषा क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित मागधी अर्थात् अर्धमागधी रही है।

२. इसके विपरीत शौरसेनी आगम तुल्य मान्य ग्रन्थों में किसी एक भी ग्रन्थ में एक भी संदर्भ ऐसा नहीं है, जिससे यह प्रतिध्वनित भी होता हो कि आगमों की मूल भाषा शौरसेनी प्राकृत थी। उनमें मात्र यह उल्लेख है कि तीर्थंकरों की जो वाणी खिरती है, वह सर्वभाषारूप परिणत होती है। उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि उनकी वाणी जन साधारण को आसानी से समझ में आती थी। वह लोकवाणी थी। उसमें मगध के निकटवर्ती क्षेत्रों की क्षत्रीय बोलियों के शब्द-रूप भी होते थे और यही कारण था कि उसे मागधी न कहकर अर्धमागधी कहा गया था।

३. जो ग्रन्थ जिस क्षेत्र में रचित या सम्पादित होता है, उसका वहाँ की बोली से प्रभावित होना स्वाभाविक है। प्राचीन स्तर के जैन आगम यथा-आचारांग, सूत्रकृतांग, इसिभासियाई (ऋषिभाषित), उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि मगध और उसके समीपवर्ती क्षेत्र में रचित हैं उनमें इसी क्षेत्र के नगरों आदि की सूचनाएँ हैं। मूल आगमों में एक भी ऐसी सूचना नहीं है कि महावीर ने बिहार, बंगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश से आगे विहार किया हो। अतः उनकी भाषा अर्धमागधी रही होगी।

४. पुनः आगमों की प्रथम वाचना पाटलीपुत्र में और दूसरी वाचना खण्डगिरि (उड़ीसा) में हुई, ये दोनों क्षेत्र मथुरा से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याप्त दूरी पर स्थित हैं, अतः कम से कम प्रथम और द्वितीय वाचना के समय तक अर्थात् ई.पू. दूसरी शती तक उनके शौरसेनी में रूपान्तरित होने का या उससे प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यह सत्य है कि उसके पश्चात् जब जैन धर्म एवं विद्या का केन्द्र पाटलीपुत्र से हटकर लगभग ई. पू. प्रथम शती में मथुरा बना तो उस पर शौरसेनी का प्रभाव आना प्रारंभ हुआ हो। यद्यपि मथुरा से प्राप्त दूसरी शती तक के अभिलेखों का शौरसेनी के प्रभाव से मुक्त होना यही सिद्ध करता है, जैनागमों पर शौरसेनी का प्रभाव दूसरी शती के पश्चात् ही प्रारंभ हुआ होगा। संभवतः फल्गुमित्र (दूसरी शती) के समय या उसके भी पश्चात् स्कंदिल (चतुर्थ शती) की माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी प्रभाव आया था, यही कारण है कि यापनीय परंपरा में मान्य आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, निशीथ, कल्प आदि जो आगम रहे हैं, वे शौरसेनी से प्रभावित रहे हैं। यदि डा. टॉंटिया ने यह कहा है कि आचारांग आदि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी प्रभावित संस्करण भी था, जो मथुरा क्षेत्र में विकसित यापनीय परंपरा को मान्य था, तो उनका कथन सत्य है, क्योंकि भगवती आराधना की टीका में आचारांग उत्तराध्ययन, निशीथ आदि के जो संदर्भ दिए गए हैं, वे शौरसेनी से प्रभावित हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आगमों की रचना शौरसेनी में हुई थी और वे बाद में अर्धमागधी में रूपान्तरित किए गए। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना स्कंदिल के समय महावीर-निर्वाण के लगभग आठ सौ वर्ष पश्चात् हुई थी और उसमें जिन आगमों की वाचना हुई, वे सभी उसके पूर्व अस्तित्व में थे। यापनीयों ने आगमों के इसी शौरसेनी प्रभावित संस्करण को मान्य किया था, किन्तु दिगंबरों के लिए तो, वे आगम भी मान्य नहीं थे, क्योंकि उनके अनुसार तो इस माथुरी वाचना के लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ही आगम साहित्य तो विलुप्त हो चुका था। श्वेताम्बर परंपरा में मान्य आचारांग सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार, निशीथ आदि तो ई. पू. चौथी शती से दूसरी शती तक की रचनाएँ हैं, जिसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। ज्ञातव्य है कि मथुरा का जैन-विद्या-केन्द्र के रूप में विकास ई.पू. प्रथम शती से ही हुआ है और उसके पश्चात् ही इन आगमों पर शौरसेनी प्रभाव आया होगा।

आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन : कब और कैसे?

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्कंदिल की इस माथुरी वाचना के समय ही समानान्तर रूप से एक वाचना वलभी (गुजरात) में नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई थी और इसी काल में उन पर महाराष्ट्री प्रभाव भी आया क्योंकि उस क्षेत्र की प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत थी। इसी महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित आगम आज तक श्वेताम्बर परंपरा में मान्य हैं। अतः इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आगमों के महाराष्ट्री प्रभावित और शौरसेनी प्रभावित संस्करण जो लगभग ईसा की चतुर्थ-पंचम शती में अस्तित्व में आए, उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम ही थे। यहाँ भी ज्ञातव्य है कि न तो स्कंदिल की माथुरी वाचना में और न नागार्जुन की वलभी वाचना में आगमों की भाषा में सोच-समझ पूर्वक कोई परिवर्तन किया गया था। वास्तविकता यह है कि उस युग तक आगम कण्ठस्थ चले आ रहे थे और कोई भी कण्ठस्थ ग्रन्थ स्वाभाविक रूप से कण्ठस्थ करने वाले व्यक्ति की क्षेत्रीय बोली से अर्थात् उच्चारणशैली से अप्रभावित नहीं रह सकता है, यही कारण था कि जो उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ मथुरा में एकत्रित हुआ उसके आगम-पाठ उस क्षेत्र की बोली, शौरसेनी से प्रभावित हुए और जो पश्चिमी भारत का निर्ग्रन्थ संघ वलभी में एकत्र हुआ उसके आगम-पाठ उस क्षेत्र की बोली महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हुए। पुनः यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनों वाचनाओं में सम्पादित आगमों का मूल आधार तो अर्धमागधी आगम ही थे, यही कारण है कि शौरसेनी आगम न तो शुद्ध शौरसेनी में है और न वलभी वाचना के आगम शुद्ध महाराष्ट्री में है, उन दोनों में अर्धमागधी के शब्द-रूप तो उपलब्ध होते ही हैं।

शौरसेनी आगमों में तो अर्धमागधी के साथ-साथ महाराष्ट्री प्राकृत के शब्द रूप भी बहुलता से मिलते हैं, यही कारण है कि भाषाविद् उनकी भाषा को जैन-शौरसेनी और जैन -महाराष्ट्री कहते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि जिन शौरसेनी आगमों की दुहाई दी जा रही है, उनमें से अनेक आगम ५० प्रतिशत से अधिक अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से प्रभावित हैं। श्वेताम्बर और दिगंबर मान्य आगमों में प्राकृत के रूपों का जो वैविध्य है, उसके कारणों की विस्तृत चर्चा मैंने अपने लेख 'जैन आगमों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ भाषिक स्वरूप परिवर्तन : एक विमर्श' सागर जैन विद्याभारती भाग-१ पृष्ठ २३९-२४३ में की है। प्रस्तुत प्रसंग में उसका निम्न अंश दृश्य है--

जैन आगमिक एवं आगम रूप में मान्य अर्धमागधी तथा शौरसेनी ग्रंथों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन क्यों हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया जा सकता है। वस्तुतः इन ग्रन्थों में हुए भाषिक परिवर्तनों का कोई एक ही कारण नहीं है, अपितु अनेक कारण हैं, जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे -

१. भारत में वैदिक परंपरा में वेद-वचनों को मंत्र रूप में मानकर उनके स्वर व्यंजन की उच्चारण योजना को अपरिवर्तनीय बनाए रखने पर अधिक बल दिया गया, उनके लिए शब्द और ध्वनि ही महत्त्वपूर्ण रही और अर्थ गौण रहा। यही कारण है कि आज भी अनेक वेदपाठी ब्राह्मण ऐसे हैं, जो वेदमंत्रों की उच्चारण शैली, लय आदि के प्रति तो अत्यंत सतर्क रहते हैं, किन्तु वे उनके अर्थों को नहीं जानते हैं। यही कारण है कि वेद शब्दरूप में यथावत् बने रहे। इसके विपरीत जैन परंपरा में यह माना गया कि तीर्थंकर अर्थ के उपदेष्टा होते हैं। उनके वचनों को शब्दरूप तो गणधर आदि के द्वारा दिया जाता है। अतः जैनाचार्यों के लिए अर्थ या कथन का तात्पर्य ही प्रमुख था, उन्होंने कभी भी शब्दों पर बल नहीं दिया। शब्दों में चाहे परिवर्तन हो जाए, लेकिन अर्थों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, यही जैन आचार्यों का प्रमुख लक्ष्य रहा। शब्दरूपों की उनकी इस उपेक्षा के फलस्वरूप आगमों के भाषिक स्वरूप में परिवर्तन होते गए। इसी क्रम में ईसा की चतुर्थ शती में अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी प्रभावित और महाराष्ट्री प्रभावित संस्करण अस्तित्व में आए।

२. आगम साहित्य में जो भाषिक परिवर्तन हुए उनका दूसरा कारण यह था कि जैन-भिक्षु - संघ में विभिन्न प्रदेशों के भिक्षु गण सम्मिलित थे। अपनी-अपनी प्रादेशिक बोलियों से प्रभावित होने के कारण उनकी उच्चारण-शैली में भी स्वाभाविक भिन्नता रहती थी, फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम साहित्य के भाषिक स्वरूप में भिन्नताएँ आ गईं।

३. जैन भिक्षु सामान्यतया भ्रमणशील होते हैं, उनकी भ्रमणशीलता के कारण उनकी बोलियों, भाषाओं पर भी अन्य प्रदेशों की बोलियों का प्रभाव भी पड़ता ही था, फलतः आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ और उनमें तत् तत् क्षेत्रीय बोलियों का मिश्रण होता गया। उदाहरण के रूप में जब पूर्व का भिक्षु पश्चिमी प्रेदशों में अधिक विहार करता है तो उसकी भाषा में पूर्व एवं पश्चिम दोनों की ही बोलियों का प्रभाव आ जाता है, फलतः उनके द्वारा कण्ठस्थ आगम के भाषिक स्वरूप की एकरूपता समाप्त हो गई।

४. सामान्यतया बुद्ध के वचन बुद्ध के निर्वाण के २००-३०० वर्ष के अंदर ही अंदर लिखित रूप में आ गए। अतः उनके भाषिक स्वरूप में उनके रचनाकाल के बाद बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया, तथापि उनकी उच्चारण-शैली विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रही है। आज भी लंका, बर्मा, थाईलैंड आदि देशों के भिक्षुओं का त्रिपिटक का उच्चारण भिन्न-भिन्न होता है, फिर भी उनके लिखित स्वरूप में बहुत कुछ एकरूपता है। इसके विपरीत जैन आगमिक एवं आगमतुल्य साहित्य एक सुदीर्घकाल तक लिखित रूप में नहीं आ सका, वह गुरुशिष्य-परंपरा से मौखिक ही चलता रहा, फलतः देशकालगत उच्चारण-भेद से उनको लिपिबद्ध करते समय उनके भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया। मात्र यही नहीं, लिखित प्रतिलिपियों के पाठ भी प्रतिलिपिकारों की असावधानी या क्षेत्रीय बोली से प्रभावित हुए। श्वेताम्बर आगमों की प्रतिलिपियाँ मुख्यतः गुजरात एवं राजस्थान में हुईं, अतः उन पर महाराष्ट्री का प्रभाव आ गया।

५. भारत में कागज का प्रचलन न होने से भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर ग्रन्थों को लिखवाना और उन्हें सुरक्षित रखना जैन -मुनियों की अहिंसा एवं अपरिग्रह की भावना के प्रतिकूल था। लगभग ई. सन् की ५वीं शती तक इस कार्य को पाप-प्रवृत्ति माना जाता था तथा इसके लिए दण्ड की व्यवस्था भी थी। फलतः महावीर के पश्चात् लगभग १००० वर्ष तक जैन साहित्य श्रुत परंपरा पर ही आधारित रहा। श्रुतपरम्परा पर आधारित होने से आगमों के भाषिक स्वरूप में वैविध्य आ गया।

६. आगमिक एवं आगम तुल्य साहित्य में आज भाषिक रूपों का जो वैविध्य देखा जाता है, उसका एक कारण लहियों (प्रतिलिपिकारों) की असावधानी भी रही है। प्रतिलिपिकार जिस क्षेत्र का होता था, उस पर भी उस क्षेत्र की बोली, भाषा का प्रभाव रहता था और वह असावधानी से अपनी प्रादेशिक बोली के शब्दरूपों को लिख देता था। उदाहरण के रूप में चाहे मूलपाठ में गच्छति लिखा हो लेकिन यदि उस क्षेत्र में प्रचलन में गच्छइ का व्यवहार है तो प्रतिलिपिकार गच्छइ रूप ही लिख देगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. जैन आगम एवं आगम तुल्य ग्रंथों में आए भाषिक परिवर्तनों का एक कारण यह भी है कि वे विभिन्न कालों एवं प्रदेशों में सम्पादित होते रहे हैं। सम्पादकों ने उनके प्राचीन स्वरूप को स्थिर रखने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु उन्हें सम्पादित करते समय अपने युग एवं क्षेत्र की प्रचलित भाषा और व्याकरण के आधार पर उनमें परिवर्तन भी कर दिया। यही कारण है कि अर्धमागधी में लिखित आगम भी जब मथुरा में संकलित एवं सम्पादित हुए तो उनका भाषिक स्वरूप अर्धमागधी की अपेक्षा शौरसेनी के निकट हो गया, और जब बलभी में सम्पादित किये गए तो वह महाराष्ट्री से प्रभावित हो गया। यह अलग बात है कि ऐसा परिवर्तन सम्पूर्ण रूप में न हो सका और उसमें अर्धमागधी के तत्त्व भी बने रहे। अतः अर्धमागधी और शौरसेनी आगमों में भाषिक स्वरूप का जो वैविध्य है वह एक यथार्थता है, जिसे हमें स्वीकार करना होगा।

क्या शौरसेनी आगमों के भाषिक स्वरूप में एकरूपता है?

किन्तु डा. सुदीप जैन का दावा है कि "आज भी शौरसेनी आगम साहित्य में भाषिक तत्त्व की एकरूपता है, जबकि अर्धमागधी आगम साहित्य में भाषा के विविध रूप पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप शौरसेनी में सर्वत्र 'ण' का प्रयोग मिलता है, कहीं भी 'न' का प्रयोग नहीं है। जबकि अर्धमागधी में नकार के साथ-साथ णकार का प्रयोग भी विकल्पतः मिलता है। यदि शौरसेनी-युग में नकार का प्रयोग आगमिक भाषा में प्रचलित होता तो दिगम्बर साहित्य में कहीं तो विकल्प से प्राप्त होता हीं।" - प्राकृतविद्या जुलाई-सितंबर ९६, पृ. ७

यहाँ डा. सुदीप जैन ने दो बातें उठाई हैं, प्रथम शौरसेनी आगम साहित्य की भाषिक एकरूपता की और दूसरी णकार और नकार की। "क्या सुदीप जी ! आपने शौरसेनी आगम साहित्य के उपलब्ध संस्करणों का भाषाशास्त्र की दृष्टि से कोई प्रमाणिक अध्ययन किया है? यदि आपने किया होता तो आप ऐसा खोखला दावा प्रस्तुत नहीं करते? आप केवल णकार का ही उदाहरण क्यों देते हैं? वह तो महाराष्ट्री और शौरसेनी दोनों में सामान्य है। दूसरे शब्दरूपों की चर्चा क्यों नहीं करते हैं? " नीचे मैं दिगंबर शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों से ही कुछ उदाहरण दे रहा हूँ, जिनसे उनके भाषिकतत्त्व की एकरूपता का दावा कितना खोखला है, यह सिद्ध हो जाता है। मात्र यही नहीं इससे यह भी सिद्ध होता है कि शौरसेनी आगमतुल्य ग्रंथ न केवल अर्धमागधी से प्रभावित हैं, अपितु उससे परवर्ती महाराष्ट्री प्राकृत से भी प्रभावित हैं--

१. आत्मा के लिए अर्धमागधी में आता, अत्ता, अप्पा, आदि शब्द-रूपों के प्रयोग उपलब्ध हैं, जबकि शौरसेनी में 'त' का द होनेके कारण आदा रूप बनता है। समयसार में आदा के साथ-साथ अप्पा शब्दरूप जो कि अर्धमागधी का है अनेक बार प्रयोग में आता है। केवल समयसार में ही नहीं, अपितु नियमसार (१२०, १३२१, १८३) आदि में भी अप्पा शब्द का प्रयोग है।

२. श्रुत का शौरसेनी रूप सुद बनता है। शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर सुद सुदकेवली आदि शब्दरसों के प्रयोग भा हुए हैं, जबकि समयसार (वर्णी ग्रंथमाला) गाथा ९ एवं १० में स्पष्ट रूप से सुयकेवली, सुयणाण शब्दरूपों का भी प्रयोग मिलता है। जबकि ये दोनों महाराष्ट्री शब्द-रूप हैं और परवर्ती भी हैं। अर्धमागधी में तो सदैव सुत शब्द का प्रयोग होता है।

३. शौरसेनी में मध्यवर्ती 'त' का 'द' होता है साथ ही उसमें लोप की प्रवृत्ति अत्यल्प है, अतः उसके क्रियारूप हवदि, होदि, कुणदि, गिण्हदि, परिणमदि, भण्णदि, पस्सदि आदि बनते हैं। इन क्रिया-रूपों का प्रयोग उन ग्रन्थों में भी हुआ, किन्तु उन्हीं ग्रन्थों के क्रिया-रूपों पर महाराष्ट्री प्राकृत का कितना व्यापक प्रभाव है, इसे निम्न उदाहरणों से जाना जा सकता है -

समयसार, वर्णी ग्रंथमाला (वाराणसी) -

जाणइ (१०), हवई (११, ३१५, ३८६, ३८४), मुणइ (३२), वुच्चइ (४५), कुव्वइ (८१, २८६, ३१९, ३२१, ३२५, ३४०) परिणमइ (७६, ७९, ८०) (ज्ञातव्य है कि समयसार के इसी संस्करण की गाथा क्र. ७७, ७८, ७९ में परिगमदि रूप भी मिलता है) इसी प्रकार के अन्य महाराष्ट्री प्राकृत के रूप जैसे वेयई (८४), कुणई (७१, ९६, २८९, २९३, ३२२, ३२६), होइ (९४, ३०६, १९, ३४९, ३५८), करई (९४, २३७, २३८, ३२८, ३४८), हवई (१४१, ३२६, ३२९), जाणइ (१८५, ३१६, ३१९, ३२०, ३६१), बहइ (१८९), सेवइ (१९७), मरइ (२५७,२९०), (जबकि गाथा २५८ में मरदि है)। पावइ (२९१, २९२), घिप्पइ (२९६), उप्पज्जइ (३०८), विणस्सइ (३१२, ३४५), दीसइ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३२३) आदि भी मिलते हैं। ये तो कुछ ही उदाहरण हैं-ऐसे अनेकों महाराष्ट्री प्राकृत के क्रियारूप समयसार में उपलब्ध हैं। न केवल समयसार अपितु नियमसार, पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि की भी यही स्थिति है।

बारहवीं शती में रचित वसुनन्दीकृत श्रावकाचार (भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण) की स्थिति तो कुन्दकुन्द के इन ग्रन्थों से भी बदतर है, उसकी प्रारंभ की सौ गाथाओं में ४०% क्रियारूप महाराष्ट्री प्राकृत के हैं।

इससे फलित यह होता है कि तथाकथित शौरसेनी आगमों के भाषागत स्वरूप में तो अर्धमागधी आगमों की अपेक्षा भी न केवल अधिक वैविध्य है, अपितु उस महाराष्ट्री प्राकृत का भी व्यापक प्रभाव है, जिसे सुदीप जी शौरसेनी से परवर्ती मान रहे हैं। यदि ये ग्रन्थ प्राचीन होते तो इन पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री का प्रभाव कहाँ से आता ? प्रो. ए.एन. उपाध्ये ने प्रवचनसार की भूमिका में स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि उसकी भाषा पर अर्धमागधी का प्रभाव है। प्रो. खड़बड़ी ने तो षट्खण्डागम की भाषा को भी शुद्ध शौरसेनी नहीं माना है।

नकार और णकार में कौन प्राचीन

अब हम णकार और नकार के प्रश्न पर आते हैं। भाई सुदीप जी आपका यह कथन सत्य है कि अर्धमागधी में नकार और णकार दोनों पाए जाते हैं। किन्तु दिगंबर शौरसेनी आगमतुल्यग्रंथों ने सर्वत्र णकार का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि जिस शौरसेनी को आप अरिष्टनेमि के काल से प्रचलित प्राचीनतम प्राकृत कहना चाहते हैं, उस णकारप्रधान शौरसेनी का जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी तक हुआ भी नहीं था। 'ण' की अपेक्षा 'न' का प्रयोग प्राचीन है। ई.पू. तृतीय शती के अशोक के अभिलेख एवं ई.पू. द्वितीय शती के खारवेल के शिलालेख से लेकर मथुरा के शिलालेख (ई.पू. दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती तक) इन लगभग ८० जैन शिलालेखों में एक भी णकार का प्रयोग नहीं है। इनमें शौरसेनी प्राकृत के रूपों यथा णमो, अरिहंताणं और णमो वड्ढमाणं का सर्वथा अभाव है। यहाँ हम केवल उन्हीं प्राचीन शिलालेखों को उद्धृत कर रहे हैं, जिनमें इन शब्दों का प्रयोग हुआ है-ज्ञातव्य है कि ये सभी अभिलेखीय साक्ष्य जैन शिलालेखसंग्रह, भाग-२ से प्रस्तुत हैं, जो दिगंबर जैन समाज द्वारा ही प्रकाशित है-

१. हाथीगुफा बिहार का शिलालेख-प्राकृत, जैन सम्राट् खारवेल, मौर्यकाल १६५वाँ, वर्ष पृ. ४ लेख क्रमांक २, 'नमो अरहंतानं, नमो सवसिधानं' .

३२. वैकुण्ठ स्वर्गपुरी गुफा, उदयगिरि, उड़ीसा, प्राकृत, मौर्यकाल १६५ वाँ वर्ष लगभग ई. पू. दूसरी शती, पृ. ११ ले.क. 'अरहन्तपसादन।'

३. मथुरा, प्राकृत, महाक्षत्रप शोडाशके ८१ वर्ष का पृ. १२ क्रमांक ५ 'नम अरहतो वधमानस्।'

४. मथुरा, प्राकृत, काल निर्देश नहीं दिया है, किन्तु जे.एफ. फलीट के अनुसार लगभग १४-१३ ई. पूर्व प्रथम शती का होनी चाहिए।
'अरहतो वर्धमानस्य'

६. मथुरा, प्राकृत, सम्भवतः १४-१३ ई.पू. प्रथमशती, पृ. १५ लेख क्र. १०, 'मा अरहतपूजा' .

७. मथुरा, प्राकृत, पृ. १७ क्र. १४ 'मा अरतानं श्रमणश्रविका' .

८. मथुरा, प्राकृत, पृ. १७ क्रमांक १५ 'नमो अरहंतानं' .

९. मथुरा, प्राकृत, पृ. १८ क्र. १६ 'नमो अरहतो महाविरस'

१०. मथुरा, प्राकृत, हुविष्क संवत् ३९, हस्तिस्तम्भ पृ. ३४, क्र. ४३, 'अयर्येन रुद्रादासेन अरहंतनं पुजाये।'

११. मथुरा, प्राकृत, भग्न वर्ष ९३, पृ. ४६, क्रमांक ६७ 'नमो अर्हतो महाविरस्स'

१२. मथुरा प्राकृत वासुदेव सं. ९८, पृ. ४७ क्र. ६०, 'नमो अरहतो महावीरस्स'

१३. मथुरा, प्राकृत, पृ. ४८, क्र. ७१ 'नमो अरहंताण सिहकस।'

१४. मथुरा, प्राकृत, भग्न पृ. ४८, क्र. ७२ 'नमो अरहंतान' .

१५. मथुरा, प्राकृत, भग्न पृ. ४८, क्र. ७३ 'नमो अरहंतान' .

१६. मथुरा, प्राकृत, भग्न पृ. ४८, क्र. ७५, अरंहंतान वर्धमानस्य .

१७. मथुरा, प्राकृत, भग्न पृ. ५१, क्र. ८०, 'नमो अरहंतान...द्वन' .

शूरसेन प्रदेश, जहाँ से शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ, वहाँ के शिलालेखों में दूसरी तीसरी शती तक णकार एवं द के प्रयोग का अभाव यही सिद्ध करता है कि दिगंबर आगमों एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाटकों की शौरसेनी का जन्म ईसा की तीसरी शती के पूर्व का नहीं है, जबकि नकार प्रधान अर्धमागधी का प्रयोग तो अशोक के अभिलेखों से अर्थात् ई.पू. तीसरी शती से सिद्ध होता है। इससे यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम प्राचीन थे, आगमों का शब्द-रूपान्तरण अर्धमागधी से शौरसेनी में हुआ है, न कि शौरसेनी से अर्धमागधी में हुआ है। दिगंबर मान्य आगमों की वह शौरसेनी जिसकी प्राचीनता का बढ़-चढ़कर दावा किया जाता है, वह अर्धमागधी और महाराष्ट्री दोनों से ही प्रभावित है और न केवल भाषायी स्वरूप के आधार पर वरन् अपनी विषयवस्तु के आधार पर भी ईसा की चौथी-पाँचवीं शती के पूर्व की नहीं है।

यदि शौरसेनी प्राचीनतम प्राकृत है तो फिर सम्पूर्ण देश में ईसा की तीसरी चौथी शती तक का एक भी अभिलेख शौरसेनी प्राकृत में क्यों नहीं मिलता है। अशोक के अभिलेख, खारवेल के अभिलेख, बलडी का अभिलेख और मथुरा के शताधिक अभिलेख कोई भी तो शौरसेनी प्राकृत में नहीं है। इन सभी अभिलेखों की भाषा क्षेत्रिय बोलियों से प्रभावित मागधी ही है। अतः उसे अर्धमागधी तो कहा जा सकता है, किन्तु शौरसेनी कदापि नहीं कहा जा सकता है। अतः प्राकृतों में अर्धमागधी ही प्राचीन है, क्योंकि मथुरा के प्राचीन अभिलेखों में भी 'नमो अरहंतानं', 'नमो वधमानस' आदि अर्धमागधी शब्द-रूप मिलते हैं। श्वेताम्बर आगमों एवं अभिलेखों में आए 'अरहंतानं' पाठ को तो प्राकृतविद्या में खोटे सिक्के की तरह बताया गया है, इसका अर्थ है कि यह पाठ शौरसेनी का नहीं है (प्राकृतविद्या, अक्टूबर-दिसंबर ९४, पृ. १०-११) अतः शौरसेनी उसके बाद ही विकसित हुई है।

शौरसेनी आगम और उनकी प्राचीनता

जब हम आगम की बात करते हैं तो हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आचारांग आदि द्वादशांगी जिन्हें श्वेताम्बर, दिगंबर और यापनीय परंपरा आगम कहकर उल्लेखित करती हैं, वे सभी मूलतः अर्धमागधी में निबद्ध हुए हैं। चाहे श्वेताम्बर परंपरा में नन्दीसूत्र में उल्लेखित आगम हो, चाहे मूलाचार, भगवती-आराधना और उनकी टीकाओं या तत्त्वार्थ और उसकी दिगंबर टीकाओं में उल्लेखित आगम हो, अथवा अंगपण्णति एवं धवला के अंग और अंगबाह्य के रूप में उल्लेखित आगम हों, उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध था। हाँ, इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ के शौरसेनी प्राकृत से प्रभावित संस्करण माथुरी वाचना लगभग चतुर्थ शती के समय अस्तित्व में अवश्य आए थे, किन्तु इन्हें शौरसेनी आगम कहना उचित नहीं होगा, वस्तुतः ये आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक ऋषिभाषित आदि श्वेताम्बर परंपरा में मान्य आगमों के ही शौरसेनी संस्करण थे, जो यापनीय परंपरा में मान्य थे और जिनकी भाषिक स्वरूप और कुछ पाठ भेदों को छोड़कर श्वेताम्बर मान्य आगमों से समरूपता थी। इनके स्वरूप आदि के संबंध में विस्तृत चर्चा मैंने 'जैन धर्म का यापनीय संप्रदाय' नामक ग्रन्थ के तीसरे अध्याय के प्रारंभ में की है। इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं।

वस्तुतः आज जिन्हें हम शौरसेनी आगम के नाम से जानते हैं उनमें मुख्यतः निम्न ग्रन्थ आते हैं--

(अ) यापनीय आगम

१. कषायपाहुड लगभग ईसा की चौथी शती, गुणधर

२. षट्खण्डागम, ईसा की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध, पुष्पदंत और भूतबली

३. भगवतीआराधना, ईसा की छठी शती, शिवार्य

४. मूलाचार, ईसा की छठी शती, वट्टकेर

ज्ञातव्य है कि ये सभी ग्रन्थ मूलतः यापनीय परंपरा के हैं और इनमें अनेकों गाथाएँ श्वेताम्बर-मान्य आगमों, विशेष रूप से निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों के समरूप हैं।

(ब) कुन्दकुन्द के ईसा की छठी शती के लगभग के ग्रन्थ

५. समयसार

६. नियमसार

७. प्रवचनकार

८. पंचास्तिकायसार

९. अष्टपाहुड (इनका कुन्दकुन्द द्वारा रचित होना संदिग्ध है, क्योंकि इनकी भाषा में अपभ्रंश के शब्द-रूप भी हैं)

(स) अन्य ग्रंथ-ईसा की छठी शती के पश्चात्

१०. तिलोयपण्णति-यतिवृषभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. लोकविभाग

१२. जंबुद्वीपपण्णति

१३. अंगपण्णति

१४. क्षपणसार

१५. गोम्मटसार (दसवीं शती)

किन्तु इनमें से कसायपाहुड को छोड़कर कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो पाँचवीं शती के पूर्व का हो। ये सभी ग्रन्थ गुणस्थान सिद्धांत एवं सप्तभंगी की चर्चा अवश्य करते हैं और गुणस्थान की चर्चा जैन दर्शन में पाँचवीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में अनुपस्थित है। श्वेताम्बर आगमों में समवायांग और आवश्यक-निर्युक्ति में दो प्रक्षिप्त गाथाओं को छोड़कर गुणस्थान की चर्चा पूर्णतः अनुपस्थित है, जबकि षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना आदि ग्रन्थों में और कुन्दकुन्द के ग्रंथों में इनकी चर्चा पाई जाती है, अतः ये सभी ग्रन्थ उनसे परवर्ती हैं। इसी प्रकार उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र मूल और उसके स्वोपज्ञ भाष्य में भी गुणस्थान की चर्चा अनुपस्थित है, जबकि इसकी परवर्ती टीकाएँ गुणस्थान की विस्तृत चर्चाएँ प्रस्तुत करती हैं। उमास्वाति का काल तीसरी-चौथी शती के लगभग हैं। अतः यह निश्चित है कि गुणस्थान का सिद्धांत पाँचवीं शती में अस्तित्व में आया है। अतः शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध कोई भी ग्रन्थ जो गुणस्थान का उल्लेख कर रहा है, ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व का नहीं है। प्राचीन शौरसेनी आगमतुल्य ग्रन्थों में मात्र कसायपाहुड ही ऐसा है जो स्पष्टतः गुणस्थानों का उल्लेख नहीं करता है, किन्तु उसमें भी प्रकारान्तर से १२ गुणस्थानों की चर्चा उपलब्ध है, अतः यह भी आध्यात्मिक विकास की उन दस अवस्थाओं, जिनका उल्लेख आचारांगनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में है, से परवर्ती और गुणस्थान सिद्धांत के विकास के संक्रमण काल की रचना है, अतः उसका काल भी चौथी से पाँचवीं शती के बीच सिद्ध होता है।

शौरसेनी की प्राचीनता का दावा, कितना खोखला

शौरसेनी की प्राचीनता का गुणगान इस आधार पर भी किया जाता है कि यह नारायण कृष्ण और तीर्थंकर अरिष्टनेमि की मातृभाषा रही है, क्योंकि इन दोनों महापुरुषों का जन्म शूरसेन में हुआ था और ये शौरसेनी प्राकृत में ही अपना वाक्-व्यवहार करते थे। डा. सुदीप जी के शब्दों में इन दोनों महापुरुषों के प्रभावक व्यक्तित्व के महाप्रभाव से शूरसेन जनपद में जन्मी शौरसेनी प्राकृत भाषा को सम्पूर्ण आर्यावर्त में प्रसारित होने का सुअवसर मिला था। (प्राकृतविद्या जुलाई-सितंबर ९६, पृ. ६)

यदि हम एक बार उनके इस कथन को मान भी लें तो प्रश्न उठता है कि अरिष्टनेमि के पूर्व नमि मिथिला में जन्म थे, वासुपूज्य चम्पा में जन्मे थे, सुपार्श्व, चंद्रप्रभ और श्रेयांस काशी जनपद में जन्मे थे, यही नहीं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और मर्यादा पुरुषोत्तम राम अयोध्या में जन्मे थे। ये सभी क्षेत्र तो मगध के ही निकटवर्ती क्षेत्र हैं, अतः इनकी मातृभाषा तो अर्धमागधी रही होगी। भाई सुदीप जी के अनुसार यदि शौरसेनी अरिष्टनेमि जितनी प्राचीन है, तो फिर अर्धमागधी तो ऋषभ जितनी प्राचीन सिद्ध होती है, अतः शौरसेनी से अर्धमागधी प्राचीन ही है।

यदि शौरसेनी प्राचीन होती तो सभी प्राचीन अभिलेख और प्राचीन आगमिक ग्रन्थ शौरसेनी में मिलने थे, किन्तु ईसा की चौथी, पाँचवीं शती के पूर्व का कोई भी ग्रन्थ और अभिलेख शौरसेनी में उपलब्ध क्यों नहीं होता है?

नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की उपलब्धता के आधार पर उसकी प्राचीनता का गुणगान किया जाता है, मैं विनम्रतापूर्वक पूछना चाहूँगा कि क्या इन उपलब्ध नाटकों में कोई भी नाटक ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से पूर्व का है? फिर उन्हें शौरसेनी की प्राचीनता का आधार कैसे माना जा सकता है। मात्र नाटक ही नहीं, वे शौरसेनी प्राकृत एक भी ऐसा ग्रन्थ या अभिलेख दिखा दें जो अर्धमागधी आगमों और मागधी-प्रधान अशोक, खारवेल आदि के अभिलेखों से प्राचीन हो। अर्धमागधी के अतिरिक्त जिस महाराष्टी प्राकृत को वे शौरसेनी से परवर्ती बता रहे हैं, उसमें हाल की गाथा सप्तशती लगभग प्रथम शती में रचित है और शौरसेनी के किसी भी ग्रन्थ से प्राचीन है।

पुनः मैं डा. सुदीप के निम्न कथन की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहूँगा, वे प्राकृतविद्या, जुलाई-सितंबर ९६ में लिखते हैं कि दिगंबरों के ग्रंथ उस शौरसेनी प्राकृत में है, जिससे मागधी आदि प्राकृतों का जन्म हुआ। इस संबंध में मेरा उनसे निवेदन है कि मागधी के संबंध में 'प्रकृतिः शौरसेनी' (प्राकृत-प्रकाश ११/२) इस कथन की वे जो व्याख्या कर रहे हैं, वह भ्रान्त है और वे स्वयं भी शौरसेनी के संबंध में 'प्रकृतिः संस्कृतम्'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृतप्रकाश १२/२ इस सूत्र की व्याख्या में प्रकृति का जन्मदात्री, यह अर्थ अस्वीकार कर चुके हैं। इसकी विस्तृत समीक्षा हमने अग्रिम पृष्ठों में की है। इसके प्रत्युत्तर में मेरा दूसरा तर्क यह है कि यदि शौरसेनी प्राकृत ग्रंथों के आधार पर ही मागधी के प्राकृत आगमों की रचना हुई, तो उनमें किसी भी शौरसेनी प्राकृत के ग्रंथ का उल्लेख क्यों नहीं है। श्वेताम्बर आगमों में वे एक भी संदर्भ दिखा दें, जिसमें भगवती-आराधना, मूलाचार, षट्खण्डागम, तिलोयपण्णत्ति, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार आदि का उल्लेख हुआ हो। टीकाओं में भी मलयगिरि जी ने मात्र समयपाहुड का उल्लेख किया है, इसके विपरीत मूलाचार, भगवती-आराधना और षट्खण्डागम की टीकाओं में एवं तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि सभी दिगंबर टीकाओं में इन आगमों एवं निर्युक्तियों के उल्लेख हैं। भगवतीआराधना की टीका में तो आचारांग, उत्तराध्ययन, कल्प तथा निशीथ से अनेक अवतरण भी दिए हैं। मूलाचार में न केवल अर्धमागधी आगमों का उल्लेख है, अपितु उनकी सैकड़ों गाथाएँ भी हैं। मूलाचार में आवश्यकनिर्युक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, चंद्रवेध्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि की अनेक गाथाएँ अपने शौरसेनी शब्द-रूपों में यथावत् पाई जाती हैं।

दिगंबर परंपरा में जो प्रतिक्रमणसूत्र उपलब्ध है, उसमें ज्ञातसूत्र के उन्हीं १९ अध्ययनों के नाम मिलते हैं, जो वर्तमान में श्वेताम्बर परंपरा में उपलब्ध ज्ञाताधर्मकथा में उपलब्ध हैं। तार्किक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जो ग्रंथ जिन-जिन ग्रन्थों का उल्लेख करता है, वह उनसे परवर्ती ही होता है। पूर्ववर्ती कदापि नहीं। शौरसेनी आगम या आगमतुल्य ग्रन्थों में यदि अर्धमागधी आगमों के नाम मिलते हैं तो फिर शौरसेनी और उसका रचित साहित्य अर्धमागधी आगमों से प्राचीन कैसे हो सकता है?

आदरणीय टाँटिया जी के माध्यम से यह बात भी उठाई गई है कि मूलतः आगम शौरसेनी में रचित थे और कालान्तर में उनका अर्धमागधीकरण (महाराष्ट्रीकरण) किया गया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि जैन धर्म का उद्भव मगध में हुआ और वहीं से वह दक्षिणी एवं उत्तरपश्चिमी भारत में फैला। अतः आवश्यकता हुई अर्धमागधी आगमों के शौरसेनी और महाराष्ट्री रूपान्तरण की, न कि शौरसेनी आगमों के अर्धमागधी रूपान्तर की। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी या महाराष्ट्री में रूपान्तरित हुए न कि शौरसेनी आगम अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, अतः ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना कर मात्र कुतर्क करना कहाँ तक उचित है।

बुद्धवचनों की मूलभाषा मागधी थी, न कि शौरसेनी -

शौरसेनी को मूलभाषा एवं मागधी से प्राचीन सिद्ध करने हेतु आदरणीय प्रो. नथमलजी टाँटिया के नाम से यह भी प्रचारित किया जा रहा है कि "शौरसेनी पालि भाषा की जननी है, यह मेरा स्पष्ट चिंतन है। पहले बौद्धों के ग्रंथ शौरसेनी में थे उनको जला दिया गया और पालि में लिखा गया।" प्राकृत विद्या, जुलाई-सितंबर ९६, पृ. १०।

टाँटियाजी जैसा बौद्धविद्या का प्रकाण्ड विद्वान् ऐसी कपोलकल्पित बात कैसे कह सकता है? यह विचारणीय है। क्या ऐसा कोई भी अभिलेखीय या साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है? जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूल बुद्ध - वचन शौरसेनी में थे। यदि हो तो आदरणीय टाँटिया जी या भाई सुदीपजी उसे प्रस्तुत करें, अन्यथा ऐसी आधारहीन बातें करना विद्वानों के लिए शोभनीय नहीं है।

यह बात तो बौद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं कि मूल बुद्ध - वचन मागधी में थे और कालान्तर में उनकी भाषा को संस्कारित करके पालि में लिखा गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार मागधी और अर्धमागधी में किंचित् अन्तर है, उसी प्रकार मागधी और पालि में भी किंचित् अन्तर है, वस्तुतः तो पालि भगवान् बुद्ध की मूलभाषा मागधी का एक संस्कारित रूप है, यही कारण है कि कुछ विद्वान पालि को गागधी का ही एक प्रकार मानते हैं, दोनों में बहुत अधिक अंतर नहीं है। पालि, संस्कृत और मागधी की मध्यवर्ती भाषा है या मागधी का ही साहित्यिक रूप है। यह तो प्रमाणसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने मागधी में ही अपने उपदेश दिए थे, क्योंकि बौद्ध - ग्रन्थों का स्पष्ट मन्तव्य है कि मागधी ही मूल भाषा है। इस संबंध में बुद्धघोष का निम्न कथन सबसे बड़ा प्रमाण है -

सा मागधी मूल भासा नरायाय आदिकप्पिका।
ब्रह्मणो च अस्सुतालापा संबुद्धा चापि भासरे।

अर्थात् मागधी ही मूलभाषा है जो सृष्टि के प्रारंभ में उत्पन्न हुई और न केवल ब्रह्मा (देवता) अपितु बालक और बुद्ध भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी भाषा में बोलते हैं। (See-The preface to the childer's Pali Dictionary)

इससे यही फलित होता है कि मूल बुद्धवचन मागधी में थे। पालि उसी मागधी का संस्कारित साहित्यिक रूप है, जिसमें कालान्तर में बुद्धवचन लिखे गए। वस्तुतः पालि के रूप में मागधी का एक ऐसा संस्करण तैयार किया गया, जिसे संस्कृत के विद्वान् और भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग भी आसानी से समझ सकें। अतः बुद्धवचन मूलतः मागधी में थे, न कि शौरसेनी में। बौद्धत्रिपिटक की पालि और जैन आगमों की अर्धमागधी में कितना साम्य है, यह तो सुत्तनिपात और इसिभासियाई के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्राचीन पालि-ग्रन्थों की एवं प्राचीन अर्धमागधी आगमों की भाषा में अधिक दूरी नहीं है। जिस समय अर्धमागधी और पालि में ग्रन्थरचना हो रही थी, उस समय तक शौरसेनी एक बोली थी, न कि एक साहित्यिक भाषा। साहित्यिक भाषा के रूप में उसका जन्म तो ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद ही हुआ है। संस्कृत के पश्चात् सर्वप्रथम साहित्यिक भाषा के रूप में यदि कोई भाषा विकसित हुई है तो वे अर्धमागधी एवं पालि ही हैं, न कि शौरसेनी। शौरसेनी का कोई भी ग्रन्थ या नाटकों के अंश ईसा की तीसरी-चौथी शती से पूर्व के नहीं है, जबकि पालित्रिपिटक और अर्धमागधी आगम साहित्य के अनेक ग्रन्थ ई.पू. तीसरी-चौथी शती में निर्मित हो चुके थे।

'प्रकृति : शौरसेनी' का सम्यक् अर्थ

जो विद्वान् मागधी या अर्धमागधी को शौरसेनी से परवर्ती एवं उसी से विकसित मानते हैं, वे अपने कथन का आधार वररुचि (लगभग ७वीं शती) के प्राकृतप्रकाश और हेमचन्द्र (लगभग १२वीं शताब्दी) के प्राकृतव्याकरण के निम्न सूत्रों को बताते हैं-

अ. १. प्रकृतिः शौरसेनी १०/२

अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी। स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची-लक्षणं प्रवर्तयितव्यम्।

२. प्रकृतिः शौरसेनी ११/२१

अस्याः मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदितव्यम्।

- वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश।

ब. १. शेषं शौरसेनीवत् ८/४/३०२

मागध्यां यदुक्तं ततोअन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम्।

२. शेषं शौरसेनीवत् ८/४/३२३

पैशाच्यां यदुक्तं, ततोअन्यच्छेषं पैशाच्यां शौरसेनीवद् भवति।

३. शेषं शौरसेनीवत् ८/४/४४६

अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति। अपभ्रंशभाषायां प्रायः शौरसेनीभाषातुल्यं कार्यं जायते, शौरसेनी भाषायाः ये नियमाः सन्ति, तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते। हेमचन्द्रकृत प्राकृतव्याकरण।

अतः इस प्रसंग में यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम इन सूत्रों में प्रकृति शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या है, इसे समझें। यदि हम यहाँ प्रकृति का अर्थ उद्भव का कारण मानते हैं तो निश्चित ही इन सूत्रों से यह फलित होता है कि मागधी या पैशाची का उद्भव शौरसेनी से हुआ, किन्तु शौरसेनी को एकमात्र प्राचीन भाषा मानने वाले तथा मागधी और पैशाची को उससे उद्भूत मानने वाले ये विद्वान् वररुचि के उस सूत्र को भी उद्धृत क्यों नहीं करते, जिसमें शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत बताई गई है यथा "शौरसेनी - १२/१- टीका शूरसेनानां भाषा शौरसेनी सा च लक्ष्यलक्षणाभ्यां स्पुटीक्रियते इति वेदितव्यम्। अधिकारसूत्रमेतदापरिच्छेदसमाप्तेः १२/१ प्रकृतिः संस्कृतम् १२/२ टीका-शौरसेन्यां ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम्। प्राकृत प्रकाश १२/२" अतः उक्त सूत्र के आधार पर हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि शौरसेनी प्राकृत संस्कृत से उत्पन्न हुई। इस प्रकार प्रकृति का अर्थ उद्गम स्थल करने पर उसी प्राकृतप्रकाश के आधार पर यह भी मानना होगा कि मूलभाषा संस्कृत थी और उसी से शौरसेनी उत्पन्न हुई। क्या शौरसेनी के पक्षधर इस सत्य को स्वीकार करने को तैयार हैं। भाई सुदीपजी जो शौरसेनी के पक्षधर हैं और प्रकृति : शौरसेनी के आधार पर मागधी को शौरसेनी से उत्पन्न बताते हैं, वे स्वयं भी प्रकृतिः संस्कृतम्- प्राकृतप्रकाश १२/२ के आधार पर यह मानने को तैयार नहीं है कि प्रकृति का अर्थ उससे उत्पन्न हुई ऐसा है। वे स्वयं लिखते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अ. जितने भी प्राकृत-व्याकरणशास्त्र उपलब्ध हैं, वे सभी संस्कृत भाषा में हैं एवं संस्कृत व्याकरण के माडल पर निर्मित हैं। अतएव उनमें प्रकृतिः संस्कृतम् जैसे प्रयोग देखकर कतिपयजन ऐसा भ्रम करने लगते हैं कि प्राकृतभाषा संस्कृतभाषा से उत्पन्न हुई, ऐसा अर्थ कदापि नहीं है। प्राकृतविद्या, जुलाई-सितंबर ९६, पृ. १४। भाई सुदीपजी जब शौरसेनी की बारी आती है, तब आप प्रकृति का अर्थ आधार माडल करें और जब मागधी का प्रश्न आए तब आप प्रकृतिः शौरसेनी का अर्थ मागधी शौरसेनी से उत्पन्न हुई ऐसा करें यह दोहरा मापदण्ड क्यों? क्या केवल शौरसेनी को प्राचीन और मागधी को अर्वाचीन बताने के लिए ? वस्तुतः प्राकृत और संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात के प्रमाण हैं कि उनमें मूलभाषा कौन है? संस्कृत शब्द स्वयं ही इस बात का सूचक है कि संस्कृत स्वाभाविक या मूलभाषा न होकर एक संस्कारित कृत्रिम भाषा है। प्राकृत शब्दों एवं शब्दरूपों का व्याकरण द्वारा संस्कार करके जो भाषा निर्मित होती है, उसे ही संस्कृत कहा जा सकता है। जिसे संस्कारित न किया गया हो वह संस्कृत कैसे होगी? वस्तुतः प्राकृत स्वाभाविक या सहज भाषा है और उसी को संस्कारित करके संस्कृत भाषा निर्मित हुई है। इस दृष्टि से प्राकृत मूलभाषा है और संस्कृत उससे उद्भूत हुई है।

हेमचन्द्र के पूर्व नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालङ्कार की टीका में प्राकृत और संस्कृत शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं--

सकल जगज्जन्तुनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। आरिसवयणे सिद्धं, देवाणं अद्धमागहा वाणी इत्यादि,वचनाद्वा प्राक् पूर्वकृत् प्राकृतम्। बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिन्धनभूत वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात्संस्कारकरणात् च समासादित विशेषं सत् संस्कृतादुत्तर भेदोनाप्नोति। काव्यालंकार-टीका, नमिसाधु २/१२

अर्थात् जो संसार के प्राणियों का व्याकरण आदि संस्कार से संहित सहज वचन व्यापार है, उससे निःसृत भाषा प्राकृत है जो बालक, महिला आदि के लिए भी सुबोध है और पूर्व में निर्मित होने से (प्राक् + कृत) सभी भाषाओं की रचना का आधार है वह तो मेघ से निर्मुक्त जल की तरह सहज है उसी का देश-प्रदेश के आधार पर किया गया संस्कारित रूप संस्कृत और उसके विभिन्न भेद अर्थात् विभिन्न साहित्यिक प्राकृतें हैं। सत्य यह है कि बोली के रूप में तो प्राकृतें ही प्राचीन हैं और संस्कृत उनका संस्कारित रूप है, वस्तुतः संस्कृत विभिन्न प्राकृत बोलियों के बीच सेतु का काम करने वाली एक सामान्य साहित्यिक भाषा के रूप में अस्तित्व में आई।

यदि हम भाषा-विकास की दृष्टि से इस प्रश्न पर चर्चा करें तो भी यह स्पष्ट है कि संस्कृत सुपरिमार्जित, सुव्यवस्थित और व्याकरण के आधार पर सुनिबद्ध भाषा है। यदि हम यह मानते हैं कि संस्कृत से प्राकृतें निर्मित हुई हैं, तो हमें यह भी मानना होगा कि मानव जाति अपने आदिकाल में व्याकरण शास्त्र के नियमों से संस्कारित संस्कृत भाषा बोलती थी और उसी से अपभ्रष्ट होकर शौरसेनी और शौरसेनी से अपभ्रष्ट होकर मागधी, पैशाची, अपभ्रंश आदि भाषाएँ निर्मित हुईं। इसका अर्थ यह भी होगा कि मानव जाति की मूल भाषा अर्थात् संस्कृत से अपभ्रष्ट होते-होते ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ, किन्तु मानव जाति और मानवीय संस्कृति के विकास का वैज्ञानिक इतिहास इस बात को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा।

वह तो यही मानता है कि मानवीय बोलियों के संस्कार द्वारा ही विभिन्न साहित्यिक भाषाएँ अस्तित्व में आईं अर्थात् विभिन्न बोलियों से ही विभिन्न भाषाओं का जन्म हुआ है। वस्तुतः इस विवाद के मूल में साहित्यिक भाषा और लोकभाषा अर्थात् बोली के अंतर को नहीं समझ पाना है। वस्तुतः प्राकृतें अपने मूलस्वरूप में भाषाएँ न होकर बोलियाँ रही हैं। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्राकृत कोई एक बोली नहीं अपितु बोली-समूह का नाम है। जिस प्रकार प्रारंभ में विभिन्न प्राकृतों अर्थात् बोलियों को संस्कारित करके एक सामान्य वैदिक भाषा का निर्माण हुआ, उसी प्रकार कालक्रम में विभिन्न बोलियों को अलग-अलग रूप में संस्कारित करके उनसे विभिन्न साहित्यिक प्राकृतों का निर्माण हुआ। अतः यह एक सुनिश्चित सत्य है कि बोली के रूप में प्राकृतें मूल एवं प्राचीन है और उन्हीं से संस्कृत का विकास एक कामन भाषा के रूप में हुआ। प्राकृतें बोलियाँ और संस्कृत भाषा है। बोली को व्याकरण से संस्कारित करके एकरूपता देने से भाषा का विकास होता है।

भाषा से बोली का विकास नहीं होता है। विभिन्न प्राकृत बोलियों को आगे चलकर व्याकरण के नियमों से संस्कारित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया गया तो उनसे विभिन्न प्राकृतों का जन्म हुआ। जैसे मागधी बोली से मागधी प्राकृत का, शौरसेनी बोली से शौरसेनी प्राकृत का और महाराष्ट्र की बोली से महाराष्ट्री प्राकृत का विकास हुआ। प्राकृत के शौरसेनी, मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि भेद तत्-तत् प्रदेशों की बोलियों से उत्पन्न हुए हैं न कि किसी प्राकृत विशेष से। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कोई भी प्राकृत व्याकरण सातवीं शती से पूर्व का नहीं है। साथ ही उनमें प्रत्येक प्राकृत के लिए अलग-अलग मॉडल अपनाए गये हैं। वररुचि के लिए शौरसेनी की प्रकृति संस्कृत है। जबकि हेमचन्द्र के लिए शौरसेनी की प्रकृति (महाराष्ट्री) प्राकृत है, अतः प्रकृति का अर्थ आदर्श या मॉडल है। अन्यथा हेमचन्द्र के शौरसेनी के संबंध में 'शेषं प्राकृतवत्' (८.४.२८६) का अर्थ होगा, शौरसेनी महाराष्ट्री से उत्पन्न हुई, जो शौरसेनी के पक्षधरों को मान्य नहीं होगा।

क्या अर्धगामधी-आगम मूलतः शौरसेनी में थे?

प्राकृतविद्या, जनवरी-मार्च ९६ के सम्पादकीय में डॉ. सुदीप जैन ने प्रो. टॉंटिया को यह कहते हुए प्रस्तुत किया है कि "श्वेताम्बर जैन साहित्य का भी प्राचीन रूप शौरसेनी प्राकृतमय ही था, जिसका स्वरूप क्रमशः अर्धमागधी के रूप में बदल गया।" इस संदर्भ में हमारा प्रश्न यह है कि यदि प्राचीन श्वेताम्बर आगम-साहित्य शौरसेनी प्राकृत में था, तो फिर वर्तमान उपलब्ध पाठों में कहीं भी शौरसेनी का प्रभाव क्यों नहीं दिखाई देता। इसके विपरीत हम यह पाते हैं कि दिगंबर परंपरा में मान्य शौरसेनी आगम साहित्य पर अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत का व्यापक प्रभाव है, इस तथ्य की सप्रमाण चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। इस संबंध में दिगंबर परंपरा के शीर्षस्थ विद्वान् प्रो. ए.एन. उपाध्ये का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रवचनसार की भाषा पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का पर्याप्त प्रभाव है और अर्धमागधी भाषा की अनेक विशेषताएँ उत्तराधिकार के रूप में इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई हैं। इसमें स्वरपरिवर्तन, मध्यवर्ती व्यंजनों के परिवर्तन 'य' श्रुति इत्यादि अर्धमागधी भाषा के समान ही मिलते हैं। दूसरे वरिष्ठ दिगंबर विद्वान् प्रो. खड़बड़ी का कहना है कि षट्खण्डागम की भाषा शुद्ध शौरसेनी नहीं है। इस प्रकार यहाँ एक ओर दिगंबर विद्वान इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर रहे हैं कि दिगम्बर आगमों पर श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा का प्रभाव है वहाँ यह कैसे माना जा सकता है कि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए। अपितु इससे तो यही फलित होता है कि अर्धमागधी आगम ही शौरसेनी में रूपान्तरित हुए हैं। पुनः अर्धमागधी भाषा के स्वरूप के संबंध में दिगंबर विद्वानों में जो भ्रांति प्रचलित रही है उसका यहाँ स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। संभवतः ये विद्वान् अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अंतर को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाए हैं तथा सामान्यतः अर्धमागधी और महाराष्ट्री को पर्यायवाची मानकर ही चलते रहे। यही कारण है कि उपाध्ये जैसे विद्वान् भी 'य' श्रुति को अर्धमागधी का लक्षण बताते हैं। जबकि वह मूलतः महाराष्ट्री प्राकृत का लक्षण है, न कि अर्धमागधी का। अर्धमागधी तो 'य' श्रुति प्रधान नहीं है।

यह सत्य है कि श्वेताम्बर आगमों की अर्धमागधी भाषा में कालक्रम में परिवर्तन हुए हैं और उस पर महाराष्ट्री प्राकृत की य' श्रुति का प्रभाव आया है, किन्तु यह मानना पूर्णतः मिथ्या है कि श्वेताम्बर आगमों का शौरसेनी से अर्धमागधी में रूपान्तरण हुआ है। वास्तविकता यह है कि अर्धमागधी आगम ही माथुरी और वल्लभी वाचनाओं के समय क्रमशः शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्रभावित हुए हैं।

टॉंटिया जी जैसा विद्वान् इस प्रकार की मिथ्या धारणा को प्रतिपादित करे कि शौरसेनी आगम ही अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए यह विश्वसनीय नहीं लगता है। यदि टॉंटिया जी का यह कथन, कि पाली त्रिपिटक और अर्धमागधी आगम मूलतः शौरसेनी में थे और फिर पाली और अर्धमागधी में रूपान्तरित हुए, सत्य है तो उन्हें या सुदीप को इसके प्रमाण प्रस्तुत करने चाहिए। वस्तुतः जब किसी बोली को साहित्यिक भाषा का रूप दिया जाता है तो एकरूपता के लिए नियम या व्यवस्था आवश्यक होती है और यही नियम भाषा का व्याकरण बनाते हैं। विभिन्न प्राकृतों को जब साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया तो उनके लिए भी व्याकरण के नियम आवश्यक हुए और ये व्याकरण के नियम मुख्यतः संस्कृत से गृहीत किए गए। जब व्याकरणशास्त्र में किसी भाषा की प्रकृति बताई जाती है तब वहाँ तात्पर्य होता है कि उस भाषा के व्याकरण के नियमों का मूल आदर्श किस भाषा के शब्दरूप हैं? उदाहरण के लिए जब हम शौरसेनी के व्याकरण की चर्चा करते हैं तो हम यह मानते हैं कि उसके व्याकरण का आदर्श अपनी कुछ विशेषताओं को छोड़कर जिसकी चर्चा उस भाषा के व्याकरण में होती है, संस्कृत के शब्दरूप हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी भाषा का जन्म बोली के रूप में पहले होता है फिर बोली से साहित्यिक भाषा का जन्म होता है जब साहित्यिक भाषा बनती है तब उसके लिए व्याकरण के नियम बनाए जाते हैं, ये व्याकरण के नियम जिस भाषा के शब्दरूपों के आधार पर उस भाषा के शब्दरूपों को समझाते हैं वही उसकी प्रकृति कहलाते हैं।यह सत्य है कि बोली का जन्म पहले होता है, व्याकरण उसके बाद बनता है। शौरसेनी अथवा प्राकृत की प्रकृति को संस्कृत मानने का अर्थ इतना ही है कि इन भाषाओं के जो भी व्याकरण बने हैं वे संस्कृत शब्दरूपों के आधार पर बने हैं। यहाँ पर भी ज्ञातव्य है कि प्राकृत का कोई भी व्याकरण प्राकृत के लिखने या बोलने वालों के लिए नहीं बनाया गया, अपितु उनके लिए बनाया गया जो संस्कृत में लिखते या बोलते थे। यदि हमें किसी संस्कृत के जानकार व्यक्ति को प्राकृत के शब्द या शब्दरूपों को समझाना हो तो हमें उसका आधार संस्कृत को ही बनाना होगा और उसी के आधार पर यह समझाना होगा कि संस्कृत के किस शब्द से प्राकृत का कौन सा शब्दरूप कैसे निष्पन्न हुआ है।

इसलिए जो भी प्राकृत-व्याकरण निर्मित किए गए अपरिहार्य रूप से वे संस्कृत शब्दों या शब्दरूपों को आधार मानकर निर्मित किए गए, अपरिहार्य रूप से वे संस्कृत शब्दों या शब्दरूपों को आधार मानकर प्राकृत शब्दों या शब्द रूपों की व्याख्या करते हैं। संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति कहने का इतना ही तात्पर्य है। इसी प्रकार जब मागधी, पैशाची या अपभ्रंश की प्रकृति शौरसेनी को कहा जाता है तो उसका तात्पर्य होता है कि प्रस्तुत व्याकरण के नियमों में इन भाषाओं के शब्दरूपों को शौरसेनी शब्दों को आधार मानकर समझाया गया है। प्राकृतप्रकाश की टीका में वररुचि ने स्पष्टतः लिखा है 'शौरसेन्या ये शब्दास्तेषां प्रकृतिः संस्कृतम्' (१२/२) अर्थात् शौरसेनी के जो शब्द हैं उनकी प्रकृति या आधार संस्कृत शब्द हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृतों में तीन प्रकार के शब्द-रूप मिलते हैं, तद्भव, तत्सम और देशज। देशज शब्द वे हैं जो किसी देश-विशेष में किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त हैं। इनके अर्थ की व्याख्या के लिए व्याकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती है। तद्भव शब्द वे हैं जो संस्कृत शब्दों से निर्मित हैं, जबकि संस्कृत के समान शब्द तत्सम हैं। संस्कृत व्याकरण में दो शब्द प्रसिद्ध हैं- प्रकृति और प्रत्यय। इनमें मूल शब्दरूप को प्रकृति कहा जाता है। मूलशब्द से जो शब्द रूप बना है वह तद्भव है। प्राकृत-व्याकरण संस्कृत शब्द से प्राकृत का तद्भव शब्दरूप कैसा बना है, इसकी व्याख्या करता है। अतः यहाँ संस्कृत को प्रकृति कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि तद्भव शब्दों के संदर्भ में संस्कृत के शब्द को आदर्श मानकर या माडल मानकर यह व्याकरण लिखा गया है। अतः प्रकृति का अर्थ आदर्श या माडल है। संस्कृत शब्दरूप को मॉडल, आदर्श मानना, इसलिए आवश्यक था कि प्राकृत-व्याकरण संस्कृत के जानकार विद्वानों को दृष्टि में रखकर या उनके लिए ही लिखे गए थे। जब डा. सुदीप जी शौरसेनी के संदर्भ में प्रकृतिः संस्कृतम् का अर्थ माडल या आदर्श करते हैं तो उन्हें मागधी, पैशाची आदि के संदर्भ में 'प्रकृतिः शौरसेनी' का अर्थ भी यही करना चाहिए कि शौरसेनी को माडल या आदर्श मानकर इनका व्याकरण लिखा गया है, इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मागधी आदि प्राकृतों की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई है। हेमचन्द्र ने महाराष्ट्री प्राकृत को आधार मानकर शौरसेनी, मागधी आदि प्राकृतों को समझाया है, अतः इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि महाराष्ट्री प्राचीन है या महाराष्ट्री से मागधी, शौरसेनी आदि उत्पन्न हुई।

प्राचीन कौन? अर्धमागधी या शौरसेनी

इसी संदर्भ में टॉटिया जी के नाम से यह भी प्रतिपादित किया गया है कि "यदि वर्तमान अर्धमागधी आगम साहित्य को ही मूल आगम साहित्य मानने पर जोर देंगे तो इस अर्धमागधी भाषा का आज से १५०० वर्ष पहले अस्तित्व ही नहीं होने से इस स्थिति में हमें अपने आगम साहित्य को ही ५०० ई. के परवर्ती मानना पड़ेगा।" ज्ञातव्य है कि यहाँ भी महाराष्ट्री और अर्धमागधी के अंतर को न समझते हुए एक भ्रांति को खड़ा किया किया गया है। सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिए कि आगमों के प्राचीन अर्धमागधी के 'त' श्रुति प्रधान पाठ चूर्णियों और अनेक प्राचीन प्रतियों में आज भी मिल रहे हैं, उससे निःसंदेह यह सिद्ध होता है कि मूल अर्धमागधी 'त' श्रुति प्रधान थी और उसमें लोप की प्रवृत्ति नगण्य ही थी और यह अर्धमागधी भाषा शौरसेनी और महाराष्ट्री से प्राचीन भी है यदि श्वेताम्बर आगम शौरसेनी से महाराष्ट्री जिसे दिगंबर विद्वान्, भ्रांति से अर्धमागधी कह रहे हैं, बदले गए तो फिर उनकी प्राचीन प्रतियों में 'त' श्रुति के स्थान पर 'द' श्रुति के पाठ क्यों उपलब्ध नहीं होते हैं जो शौरसेनी की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषता है। इस प्रसंग में डा. टाँटिया जी के नाम से यह भी कहा गया है कि आज भी आचारांग सूत्र आदि की प्राचीन प्रतियों में शौरसेनी के शब्दों की प्रचुरता मिलती है। मैं आदरणीय टाँटिया जी से और भाई सुदीप जी से साग्रह निवेदन करूँगा की वे आचारांगऋषिभाषित सूत्रकृतांग आदि की किन्हीं भी प्राचीन प्रतियों में 'द' श्रुति प्रधान पाठ दिखला दें। प्राचीन प्रतियों में जो पाठ मिल रहे हैं, वे अर्धमागधी या आर्ष प्राकृत के हैं, न कि शौरसेनी के हैं। यह एक अलग बात है कि कुछ शब्दरूप आर्ष अर्धमागधी और शौरसेनी में समान हैं।

वस्तुतः इन प्राचीन प्रतियों में न तो 'द' श्रुति देखी जाती है और न 'न' के स्थान पर 'ण' की प्रवृत्ति देखी जाती है जिसे व्याकरण में शौरसेनी की विशेषता कहा जाता है। सत्य तो यह है कि अर्धमागधी आगमों का ही शौरसेनी रूपान्तरण हुआ है न कि शौरसेनी आगमों का अर्धमागधी रूपान्तरण। यह सत्य है कि न केवल अर्धमागधी आगमों पर अपितु शौरसेनी आगमतुल्य कुन्दकुन्द आदि के ग्रन्थों पर भी महाराष्ट्री की 'य' श्रुति का स्पष्ट प्रभाव है। जिसे हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं।

क्या पंद्रह सौ वर्ष पूर्व अर्धमागधी भाषा एवं श्वेताम्बर अर्धमागधी आगमों का अस्तित्व नहीं था?

डा. संदीप जी द्वारा टाँटिया जी के नाम से उद्धृत यह कथन कि १५०० वर्ष पहले अर्धमागधी भाषा का अस्तित्व ही नहीं था पूर्णतः भ्रान्त है। आचारांग 'सूत्रकृतांग' ऋषिभाषित जैसे, आगमों को पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर से ई.पू. तीसरी चौथी शताब्दी या उससे भी पहले का माना है। क्या उस समय ये आगम अर्धमागधी भाषा में निबद्ध न होकर शौरसेनी में निबद्ध थे। ज्ञातव्य है कि 'द' श्रुति प्रधान और णकार की प्रवृत्ति वाली शौरसेनी का जन्म तो उस समय हुआ ही नहीं था अन्यथा अशोक के अभिलेखों में और मथुरा (जो शौरसेनी की जन्मभूमि है) के अभिलेखों में कहीं तो इस शौरसेनी के वैशिष्ट्य वाले शब्दरूप उपलब्ध होने चाहिए थे? क्या शौरसेनी प्राकृत में निबद्ध ऐसा एक भी ग्रन्थ है जो ई.पू. में लिखा गया हो? सत्य तो यह है कि ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के पूर्व शौरसेनी में निबद्ध एक भी ग्रन्थ नहीं था। जबकि मागधी के अभिलेख और अर्धमागधी के आगम ई.पू. तीसरी शती से उपलब्ध हो रहे हैं। पुनः यदि ये लोग जिसे अर्धमागधी कह रहे हैं उसे महाराष्ट्री भी मान लें तो उसके भी ग्रन्थ ईसा की प्रथम शताब्दी से उपलब्ध होते हैं। सातवाहन हाल की गाथासप्तशती महाराष्ट्री प्राकृत का प्राचीन ग्रन्थ है, जो इसी ई.पू. प्रथम शती से ईसा की प्रथम शती के मध्य रचित है। पुनः यह एक संकलन-ग्रन्थ है जिसमें अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ संकलित की गई है इसका तात्पर्य यह हुआ कि इसके पूर्व भी महाराष्ट्री प्राकृत में ग्रंथ रचे गए थे। कालिदास के नाटक जिनमें शौरसेनी का प्राचीनतम रूप मिलता है, भी ईसा की चतुर्थ शताब्दी के बाद के ही हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ स्पष्ट रूप से न केवल अर्धमागधी आगमों से अपितु परवर्ती 'य' श्रुति प्रधान महाराष्ट्री से भी प्रभावित हैं, किसी भी स्थिति में ईसा की ५वीं शताब्दी के पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं। षट्खण्डागम और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में गुणस्थान, सप्तभंगी आदि लगभग ५वीं शती में निर्मित अवधारणाओं की उपस्थिति उन्हें श्वेताम्बर आगमों और उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र (लगभग चतुर्थ शती) से परवर्ती ही सिद्ध करती है, क्योंकि इनमें ये अवधारणाएँ अनुपस्थित हैं। इस संबंध में मैंने अपने ग्रन्थ 'गुणस्थानसिद्धांत-एक विश्लेषण' और 'जैन धर्म का यापनीसम्प्रदाय' में विस्तार से प्रकाश डाला है। इस प्रकार सत्य तो यह है कि अर्धमागधी भाषा या अर्धमागधी आगम नहीं, अपितु शौरसेनी भाषा और शौरसेनी आगम ही ईसा की ५वीं शती के पश्चात् अस्तित्व में आये। अच्छा होगा कि भाई सुदीप जी पहले मागधी और पाली तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अंतर को एवं इनके प्रत्येक लक्षण को, तथा जैन आगमिक साहित्य के ग्रन्थों के कालक्रम को और जैन इतिहास को तटस्थ दृष्टि से समझ लें और फिर प्रमाण सहित अपनी कलम निर्भीक रूप से चलाएँ, व्यर्थ की आधारहीन भ्रांतियाँ खड़ी करके समाज में कटुता के बीज न बोएँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org